२६ मीमांसा-दर्शन में कर्म का स्वरूप

☐ डॉ० के० एल० शर्मा

'मीमांसा' शब्द 'मान' धातु से जिज्ञासा अर्थ में 'सन्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'जिज्ञासा' रूप विशेष अर्थ में ही मीमांसा पद की निष्पत्ति सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इस प्रकार मीमांसा शब्द का अर्थ होता है— जिज्ञासा और जानने की इच्छा। जैमिनी ऋषि ने तत्कालीन मत-मतान्तरों को संकलित किया तथा उन पर अपने विचारों को जोड़कर सूत्रों की रचना की। जैमिनी के मीमांसा-सूत्र में १६ अध्याय हैं। 'अथातो धर्म जिज्ञासा' इसका प्रथम सूत्र है और "विद्यते वाऽन्यकालत्वाद्यथायाज्या सम्प्रैषो यथा याज्या सम्प्रैष:" अन्तिम सूत्र है। प्रथम बारह अध्यायों की विषयवस्तु अन्तिम चार अध्यायों (१३ से १६ तक) की विषयवस्तु से बिलकुल भिन्न है तथा ये अन्तिम चार अध्याय 'संकर्षण काण्ड' के नाम से जाने जाते हैं। शवर स्वामी ने प्रथम १२ अध्यायों पर ही अपना भाष्य लिखा है। अत: मीमांसा का यह भाग (अन्तिम चार अध्याय) उत्सन्नप्राय हो चुका है। मीमांसा सूत्र (प्रथम १२ अध्याय) की कुल सूत्र संख्या २६२१ है जो शेष पांच दर्शन-तंत्रों (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक एवं वेदान्त) के सूत्रों की सम्मिलित संख्या के बराबर है।

मीमांसा-दर्शन में चार बिन्दुओं पर प्रमुख रूपेण चर्चा की गई है: (१) धर्म का स्वरूप; (२) कर्म एवं इसका धर्म से सम्बन्ध; (३) वेदों की विषयवस्तु (विशेष रूप से धर्म और कर्म के प्रत्यय) तथा (४) वेदों का विश्लेषण करने की पद्धति का सोदाहरण प्रस्तुतिकरण (जिससे हम उन्हें सही-सही समझ सकें)।

जैमिनी ने धर्म की परिभाषा 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म:' (१.१.२) कहकर दी है। जैमिनी के अनुसार क्रिया में प्रेरक वचन से लक्षित होने वाला अर्थ धर्म कहलाता है।[१] दूसरे शब्दों में, चोदना द्वारा विश्लेषित अर्थ ही धर्म है। धर्म

१. जैमिनी सूत्र में धर्म की चर्चा हेतु निम्न सूत्र द्रष्टव्य हैं:—

अध्याय	पाद	सूत्र संख्या
१	१	१-५; २४-२६
१	३	१-१४,
२	१	६-१२
२	४	१-२
६	१	१-४

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं में लक्ष्य है जो कि स्वयं में शुभ और अशुभ नहीं है। स्पष्टता के लिये एक उदाहरण लें। मान लीजिये कि एक कानून या आदेश है जो कहता है कि 'किसी की हत्या नहीं करनी चाहिये' या सफाई रखो, या सफाई रखना चाहिये आदि आदि। लेकिन अगर कानून की अवज्ञा करने पर दण्ड का विधान न हो तो कोई भी व्यक्ति उस कानून या राज्यादेश का पालन नहीं करेगा। जिस प्रकार सभी नागरिक मामलों में राज्यादेश सर्वशक्तिमान है उसी प्रकार धार्मिक कृत्यों में वैदिक आदेश[1] हमें बाँधता है क्योंकि इस आदेश को मानने पर भावी जीवन में पुरस्कार मिलेगा। इस दृष्टि से चोदना पद का अर्थ हुआ वैदिक आदेश (या ईश्वरीय आदेश) जो किसी व्यक्ति को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है अथवा किसी विशिष्ट प्रकार का कर्म करने से रोकता है। अतः चोदना वैदिक आज्ञा या निर्देश है जो वैदिक ग्रन्थों में निहित है।

धर्म की उत्पत्ति कर्म[2], जो कि जीवन का नियम है, के द्वारा होती है। अतः यहां कर्म के स्वरूप, कर्म के भेद, कर्म का कारण, उद्देश्य एवं उपकरणों आदि पर चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक है। मीमांसा-दर्शन में कर्म का तात्पर्य वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के रूप में समझा जाता है। वैसे कर्म हमारी प्रकृति का अविभाज्य अंग है। यह नित्य एवं सार्वजनीन है। कर्म के प्रत्यय में भौतिक वस्तुएँ तथा स्थान या दिक् अनिवार्य रूप से पूर्वकल्पित होता है। कर्म को उद्देश्य के आधार पर भी विशेषित कर सकते हैं तथा यह अंशों से युक्त होता है।[3] कर्म में दैहिक अंगों की गति अनिवार्य है। मानसिक कर्मों

---

१. वेदों के रचनाकार के बारे में प्रमुख रूप से दो मत हैं—(१) वेद ईश्वर प्रणीत हैं और द्वितीय अपौरुषेय। हमें वेदों को परम्परा से चले आ रहे आदेशों के रूप में समझना चाहिये। इस दृष्टि से इनके रचनाकार के बारे में प्रश्न उठाना निरर्थक है। उदाहरण के रूप में हम किसी पारिवारिक परम्परा को ले सकते हैं। यह परम्परा किसने डाली ? यह प्रश्न निरर्थक है। प्रश्न यह अधिक समीचीन है कि यह परम्परा कितनी समयानुकूल है। इस परम्परा के मूलभूत आधार क्या हैं ? वेदों में तीन प्रकार के कर्मों—नित्य-नैमित्तिक, निषिद्ध एवं काम्य कर्मों की बात की गई है। जिनका आधार है कि व्यक्ति के विकास के साथ सामाजिक समायोजन। वेदों के आदेशों को आकार के रूप में लेना चाहिये और उसमें विषयवस्तु समयानुकूल भर सकते हैं। लेकिन ध्यान यह रहे कि यह व्यक्ति के और समाज के विकास में सहायक होनी चाहिये।

२. कर्म के बारे में चर्चा मीमांसा-सूत्र के लगभग सभी अध्यायों में हुई हैं।

३. यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि मीमांसा एक प्रमुख कर्म में कर्म-शृंखलाओं को स्वीकार करता है। अतः प्रश्न होता है कि मौलिक या प्राथमिक कर्म शृंखला क्या है ? इस प्रकार की चर्चा अमरीकी दार्शनिक आर्थर सी. डाण्टो ने की है। इस संदर्भ में मेरा लेख—"आर्थर सी, डाण्टो के 'मूल-क्रिया' के प्रत्यय का विश्लेषण"; दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष २४/अप्रेल १६७८, अंक २, द्रष्टव्य है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसे कि विचार करना, कल्पना करना, ज्ञान प्राप्त करना आदि को भी समग्र एवं खण्डों के रूप में समझा जा सकता है।

वेद प्रतिपाद्य कर्म तीन प्रकार के हैं—(१) काम्य कर्म, (२) निषिद्ध कर्म तथा (३) नित्य-नैमित्तिक कर्म। जो कर्म स्वर्ग आदि सुख को देने वाले पदार्थों के साधक हों उन्हें **काम्य कर्म** कहा जाता है। स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति द्वारा ज्योतिष्टोमेन यज्ञ करने को काम्य कर्म के उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। श्रुति वाक्यों में कामना विशेष की सिद्धि के लिये यागादि कर्म का विधान है अतः इन्हें 'काम्य कर्म' कहा गया है। जिन कर्मों को करने से अनिष्ट हो जैसे कि मृत्योपरान्त नरक की प्राप्ति आदि उन्हें निषिद्ध कर्म कहा गया है। उदाहरण के रूप में मांस का भक्षण, ब्राह्मण की हत्या, आदि निषिद्ध कर्म कहे गये हैं। नित्य-नैमित्तिक कर्म वे हैं जिन्हें करने पर कोई पुरस्कार या लाभ तो नहीं मिलता मगर न करने पर दोष लगता है। उदाहरण के रूप में संध्योपासना करना, कर्म परम्परा के पालन हेतु स्राद्ध करना आदि को ले सकते हैं।

वेद प्रतिपाद्य इन तीनों प्रकार के कर्मों को तीन प्रकार के कर्त्तव्यों के रूप में समझ सकते हैं: क्योंकि इनमें 'चाहिये' का भाव छिपा हुआ है। कुछ कर्मों को नहीं करना चाहिये (निषिद्ध कर्म), कुछ कर्मों को अनिवार्य रूप से करना चाहिये (नित्य-नैमित्तिक कर्म) तथा स्वर्गादि सुख की प्राप्ति के लिये धार्मिक कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये (काम्य कर्म)। प्रथम दो प्रकार के कर्त्तव्य सामाजिक एवं व्यक्तिगत प्रकार के हैं और तृतीय प्रकार का कर्त्तव्य पूर्णरूपेण व्यक्तिगत है। विधि की दृष्टि से अर्थात् याज्ञादि कर्मों के निष्पादन में अन्य व्यक्तियों का संदर्भ आवश्यक हो सकता है लेकिन फल की दृष्टि से यह कर्त्तव्य पूर्णरूपेण व्यक्तिगत है।

इन कर्मों के करने पर मिलने वाले फल के बारे में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। उदाहरण के रूप में 'यजेत् स्वर्गकामः' आदि आदेश वाक्यों के आधार पर कर्म करने पर यज्ञ (कारण) और स्वर्ग (उद्देश्य या फल) के बीच कोई साक्षात् सम्बन्ध दिखाई नहीं देता और कहा जा रहा है कि फल की निष्पत्ति तत्काल न होकर बाद में होती है, तब प्रश्न यह है कि फल काल में कर्म की सत्ता के अभाव में फलोत्पादम किस प्रकार होता है ?

मीमांसकों ने इस समस्या के समाधान हेतु **'अपूर्व'** के प्रत्यय को स्वीकार किया है। इन विचारकों के अनुसार अपूर्व क्षणिक कर्म का कालान्तर में भावी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

फल के साथ कार्य कारणभाव के उपपत्यर्थ एक शक्ति है[1] जो कर्म से उत्पन्न होती है और व्यक्ति की आत्मा में रहती है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक कर्म में अपूर्व (पुण्यापुण्य) उत्पन्न करने की शक्ति रहती है।

कुमारिल ने अपने ग्रन्थ 'तन्त्रवार्तिक' में अपूर्व के स्वरूप पर चर्चा की है। उनके अनुसार अपूर्व प्रधान कर्म में अथवा कर्त्ता में एक योग्यता है जो कर्म करने से पूर्व नहीं थी और जिसका अस्तित्व शास्त्र के आधार पर सिद्ध होता है। कर्म द्वारा उत्पन्न निश्चित शक्ति जो परिणाम तक पहुँचती है, अपूर्व है। अपूर्व का अस्तित्व अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। कर्त्ता द्वारा किया गया यज्ञ कर्त्ता में साक्षात् शक्ति उत्पन्न करता है जो उसके अन्दर अन्यान्य शक्तियों की भांति जन्म भर विद्यमान रहती है और जीवन के अन्त में प्रति ज्ञात पुरस्कार प्रदान करती है।

लेकिन दूसरी ओर प्रभाकर और उनके अनुयायी यह स्वीकार नहीं करते कि कर्म कर्त्ता के अन्दर एक निश्चित क्षमता उत्पन्न करता है जो अन्तिम परिणाम का निकटतम कारण है। कर्त्ता में इस प्रकार की क्षमता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी सिद्ध नहीं होतो। दूसरे शब्दों में प्रभाकर के अनुसार क्षमता की कल्पना कर्म में करना चाहिये न कि कर्त्ता में।

मीमांसकों ने अपूर्व के चार प्रकारों की चर्चा की है—(१) परमापूर्व, (२) समुदायापूर्व (३) उत्पत्यपूर्व एवं (४) अंगापूर्व। साक्षात् फल को उत्पन्न करने वाले अपूर्व को परमापूर्व या फलापूर्व कहते हैं। यह अन्तिम फल की प्राप्ति कराता है। जहाँ कई भाग मिलकर एक कर्म कहा जाता है वहाँ समुदायापूर्व

---

१. कर्म और फल के बीच सम्बन्ध की व्याख्या कई प्रकार से की गई है—

(१) कर्म से उत्पन्न शक्ति जो जीव में किसी न किसी रूप में सुरक्षित रहती है और समयानुसार स्वयं परिणाम उत्पन्न करती है (यह मत जैन, बौद्ध और मीमांसकों का है।)

(२) स्वयं इस शक्ति में फल उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता, इसके अनुरूप फल उत्पन्न करने के लिये ईश्वर की आवश्यकता पड़ती है (यह मत नैयायिकों एवं वेदान्तियों का है)।

प्रथम मत के अनुसार ऋत्, अदृष्ट, अपूर्व या संस्कार आदि प्राकृतिक कारण-कार्य नियम की भांति फल उत्पन्न करता है। कर्मोत्पन्न शक्ति और फल में सीधा सम्बन्ध रहता है। दूसरे मत के अनुसार शक्ति या नियम में कारणात्मक सामर्थ्य नहीं हो सकता। यह सामर्थ्य केवल चेतन सत्ता में हो सकता है। यह सत्ता ईश्वर है।

२. कुमारिल

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है। उदाहरण के रूप में दर्श पूर्णमास याग को ले सकते हैं। समुदाय के प्रत्येक यज्ञ का अपना अपूर्व होता है जिसे उत्पत्यपूर्व अपूर्व कहते हैं। अंगों से उत्पन्न होने वाला अपूर्व अंगापूर्व कहलाता है।

मीमांसा-दर्शन में कर्म सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के बाद यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ये दार्शनिक मात्र कर्म काण्ड (अर्थात् व्यक्ति को क्या करना चाहिये) के बारे में चर्चा करने के अतिरिक्त कुछ नहीं कहते ? उनके द्वारा कार्म-काण्ड का किया गया विवेचन कर्म से सम्बन्धित क्या दृष्टि प्रदान करता है ? इन प्रश्नों पर विवेचन सम्भवतः हमें उनके कर्म सम्बन्धी विचारों को उचित प्रकार से समझने में सहायक हो सकता है।

जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि कर्म हमारे स्वाभाविक अंग हैं, इन्हें त्यागा नहीं जा सकता। मीमांसक दो प्रकार के कर्मों में भेद करते हैं। प्रथम सहजकर्म और द्वितीय ऐच्छिक कर्म। ऐच्छिक कर्मों से बुद्धि का सम्बन्ध होता है। ऐच्छिक कर्म एक काल में एक ही हो सकता है। क्रिया का अर्थ है विषय या वस्तु का देश के साथ संयोग। लेकिन इससे कर्म का प्रत्यय सीमित एवं स्थानीय नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक ही विषय दो अलग-अलग कालों में अलग-अलग स्थानों पर हो सकता है। उदाहरण के रूप में अगर हम यह कहें कि 'यह व्यक्ति मथुरा का रहने वाला है' तो हम उसे एक ही स्थान में सीमित नहीं कर सकते। (देखिये जैमिनी सूत्र अध्याय १, पाद ३, सूत्र १९-२५) कर्म का कारण कोई उद्देश्य-- संतोष या सुख प्राप्ति की इच्छा—होता है। केवल जीवित प्राणियों के कर्मों का उद्देश्य होता है। अकर्म में भी उद्देश्य होता है। कर्म, उद्देश्य एवं परिणाम में उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का विभिन्न अंगों का शरीर के साथ होता है। इच्छा जो कर्मों का आधार है, का सम्बन्ध ज्ञान से होता है। इच्छा को मनस् के गुण के रूप में ले सकते हैं।

मीमांसा मत के अनुसार कर्म क्रिया पद द्वारा अभिव्यक्त होता है। क्रिया पद के अर्थ के लिये कर्त्ता और विषय की पूर्व कल्पना करनी पड़ती है। प्रत्येक क्रिया में आदेश छिपा रहता है। क्रिया को सार्थक तभी कहा जा सकता है जबकि उसमें आदेश निहित हो जैसे कि यजेत स्वर्गकामः।[1] कर्म (गति) के ज्ञान के बारे में प्रभाकर का मत है कि हमें इसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है और कुमारिल के अनुसार प्रत्यक्ष द्वारा। प्रभाकर का मत है कि हम वस्तु का केवल किसी स्थान विशेष से जुड़ना और अलग होना देखते हैं और उसके आधार पर कर्म या गति का अनुभव करते हैं। कुमारिल कहते हैं कि हमें गति-

१. इस बिन्दु की व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं है। देखें मेरा लेख—भावना का तत्त्व-मीमांसीय स्वरूप : ३१ वीं ऑल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेंस, जयपुर, १९८२।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म का प्रत्यक्ष होता है क्योंकि यह वस्तु में ही होती है इसी से वह स्थान के किसी एक बिन्दु से जुड़ती है और अन्य से विलग होती है।

कुमारिल कर्त्ता को ही कर्म का कारण मानता है जबकि प्रभाकर का यह मत है कि कर्मों को किसी विशिष्टकर्त्ता, उसकी इच्छाओं और प्रेरणाओं से स्वतंत्र करके विश्लेषित किया जा सकता है। प्रभाकर कर्म के विश्लेषण में निम्न पदों की चर्चा करते हैं—(१) कार्यता ज्ञान, (२) चिकीर्षा, (३) कृति, (५) चेष्टा और (६) बाह्य व्यवहार। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि कुमारिल कर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जबकि प्रभाकर कर्म की व्याख्या में हेतु उपागम की सहायता लेते हैं।[1]

दोहे

सुख-दुःख आते ही रहें, ज्यों भाटा ज्यों ज्वार।
मन विचलित होवे नहीं, देख चढ़ाव–उतार।।

कपट रहे ना कुटिलता, रहे न मिथ्याचार।
शुद्ध धर्म ऐसा जगे, होय स्वच्छ व्यवहार।।

सहज सरल मृदु नीर-सा, मन निर्मल हो जाय।
त्यागे कुलिश, कठोरता, गांठ न बंधने पाय।।

जो ना देखे स्वयं को, वही बांधता बन्ध।
जिसने देखा स्वयं को, काट लिए दुःख द्वन्द्व।।

राग द्वेष की, मोह की, जब तक मन में खान।
तब तक सुख का, शान्ति का, जरा न नाम निशान।।

भोक्ता बनकर भोगते, बंधन बंधते जायं।
द्रष्टा बनकर देखते, बंधन खुलते जायं।।

पाप होय झट रोक लें, करे न बारम्बार।
धर्मवान जाग्रत रहे, अपनी भूल सुधार।।

—सत्यनारायण गोयनका

---

१. विस्तृत विवेचना के लिये मेरे निम्न लेख द्रष्टव्य हैं—

१. Kumarila & Prabhakara's understanding of actions. Indian Philosophical Quarterly, Vol. XI, No. 1, January, 1984.

२. मीमांसा का अर्थवाद और कुछ दार्शनिक समस्याएँ : परामर्श, खण्ड ५, अंक ३, १९८४,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org